## तात्पर्य

जीवन का लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण को जानना है, जो चतुर्भुज विष्णु रूप से प्राणीमात्र के हृदय में अभिराजित हैं। योगपद्धति का अभ्यास केवल इस एकदेशीय विष्णुरूप की प्राप्ति के लिए किया जाता है, किसी अन्य प्रयोजन से नहीं। जीव-हृदय में स्थित विष्णु श्रीकृष्ण के अंश हैं। इस विष्णुमूर्ति की प्राप्ति के अतिरिक्त जो किसी दूसरे उद्देश्य से कपट-योग के परायण है, वह निस्सन्देह अपने समय का अपव्यय कर रहा है। श्रीकृष्ण जीवन के परमोच्च लक्ष्य हैं और योगाभ्यास का उद्देश्य हृदय में स्थित विष्णुमूर्ति है। हृदय में विष्णुमूर्ति की उपलब्धि के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन अनिवार्य है। इसके लिए योगी के लिए गृहत्याग कर पूर्वोक्त विधि से एकान्त में निवास करना उपयुक्त होगा। जो घर में अथवा घर के बाहर नित्य मैथुन का आनन्द लेता है, वह नामधारी योगकक्षा में जाने मात्र से योगी नहीं बन सकता। यह आवश्यक है कि मन को वश में करके मैथुनादि विषयभोगों को त्याग दिया जाय। ब्रह्मचर्यव्रत के सन्दर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य का मन्तव्य इस प्रकार है:

**कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।**
**सर्वत्र मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते।।**

'सदा-सर्वदा, सब परिस्थितियों में मन, वचन और कर्म से मैथुन का पूर्ण त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।' मैथुन में लगा व्यक्ति यथार्थ योगाभ्यास की साधना नहीं कर सकता। इसलिए वैदिक संस्कृति में बाल्यकाल से ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाती है, जब मैथुन का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। पाँच वर्ष की आयु में बालकों को गुरुकुल भेजा जाता है, जहाँ गुरुदेव उन्हें ब्रह्मचर्य के दृढ़ संयम में शिक्षित करते हैं। ऐसे अभ्यास के अभाव में ध्यान, ज्ञान अथवा भक्ति आदि किसी भी योगपद्धति में प्रगति नहीं हो सकती। वैवाहिक जीवन के विधि-विधान के अनुसार केवल अपनी स्त्री के साथ मर्यादित संभोग करने वाला भी ब्रह्मचारी है। ऐसे संयमी गृहस्थ को भक्ति सम्प्रदाय अंगीकार कर लेता है, पर ज्ञान तथा ध्यान के वर्ग ऐसे गृहस्थ को भी स्थान नहीं देते। उनके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। भक्ति-सम्प्रदाय में गृहस्थ के लिए मर्यादित मैथुन की अनुमती है, क्योंकि भक्तियोग की पद्धति इतनी बलवती है कि दिव्य भगवत्सेवा में सतत निमग्नता से मैथुन का आकर्षण अपने-आप दूर हो जाता है। भगवद्गीता में कहा है:

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।** (2/59)

एक ओर जहाँ अभक्त को विषयभोग से आत्मसंयम करना पड़ता है, दूसरी ओर, दिव्य भगवद्रसास्वादन को प्राप्त करके भगवद्भक्त इन्द्रियतृप्ति से अपने-आप विरत हो जाते हैं। भक्त के अतिरिक्त किसी दूसरे को उस अनुपमेय रस की जानकारी नहीं है।

**विगतभीः** पूर्ण कृष्णभावनाभावित हुए बिना निर्भयता नहीं हो सकती।